खण्ड-9, अंक-1, वर्ष-2021, मु0प्र0 46-50
D.O.I.: https://doi.org/10.22445/avsp.v9i1.9
SJIF (2021) : 7.247

केंचुओं की जैव परिस्थितिकी, वितरण व सम्बन्ध

मोहित कुमार तिवारी[1] व प्रतिभा गुप्ता[2]
[1]1/626, रुचि खण्ड–1, शारदा नगर, लखनऊ–226 002, उ0प्र0, भारत
[2]भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण, पर्यावरण, वन एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय, केन्द्रीय वनस्पति प्रयोगशाला
सी०एन०एच० भवन, ए०जे०सी०बोस भारतीय वनस्पति उद्यान, हावड़ा–711 103, प०बंगाल, भारत

प्राप्ति तिथि–31.08.2021, स्वीकृति तिथि–27.10.2021

सार– विश्व के सामान्यतः सभी उष्ण कटिबन्धीय व शीतोष्ण भागों में केंचुए पाये जाते हैं। वर्षा ऋतु में सक्रिय रहने वाले ये जीव मृदाभक्षी होते हैं। इन्हें किसानों का मित्र भी माना जाता है। भारतीय उपमहाद्वीप पर इनकी कई प्रजातियां पायी जाती हैं। जिनमें प्रमुख हैं–फेरीटिमा, *यूटायफियस, द्राविड़ा, मेगास्कोलेक्स, टोनोस्कोलेक्स* इत्यादि। सामान्यतः केंचुए मृदा में पाए जाते हैं, परन्तु केंचुओं की कुछ प्रजातियां जैसे *पेरियोनिक्स* पानी में, कुछ जैसे *डाइकोगैस्टर* ताड़ के वृक्ष के अग्रभाग पर पाए गए हैं। जबकी *फेरिटिमा मसिका बड़े* वृक्षों पर पायी जाने वाले अधिपादपीय फर्नो के नीचे और *डेन्ड्रोबायना* हरे हिमनदो में सुरंग बना कर रहते पाये गये हैं। *लम्ब्रीकस* केंचुये की यूरोपीय अमरीकी प्रजाति है जिसका विवरण सामान्यतः आजादी पूर्व एवं आजादी के कई वर्षों बाद तक भारतीय पुस्तकों में दिया जाता था। सन 1926 में प्रोफेसर कर्म नारायण बहल जो कि लखनऊ विश्वविद्यालय में जन्तुशास्त्र के प्रोफेसर थे, ने 1919 से 1926 तक अपने किये अध्ययनों के आधार पर पहली बार भारतीय केंचुये *फेरिटिमा पोस्थुमा* पर एक संदर्भ पुस्तक लिखी। सभी जन्तुओं की तरह केंचुए भी परिस्थितिकी के अनुरूप विशिष्ट रुप से अनुकूलित होते हैं। इनकी जीवन शैली रचना, जैव–रसायन की इन्हें जीव जगत में विशिष्टता प्रदान करती है। केंचुए एनीलीडा संघ के ओलाइगोकीटा वर्ग के सदस्य हैं तथा पोलीकीटा तथा हिरियूडिनाइडा वर्ग के मध्य, ये दोनों वर्गों से कुछ–कुछ समानतायें भी दर्शाते हैं। प्रस्तुत विश्लेषणात्मक आलेख में केंचुओं के जैव परिस्थिकी सम्बन्ध, वितरण व जन्तु जगत में एनीलीडा संघ के वर्ग आलोइगोकीटा में इनका स्थान निर्धारण व पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करता है।

बीज शब्द– ओलाइगोकीटा, केंचुआ, जैव परिस्थिकी, जीवन सम्बन्ध, मृदाभक्षी, फेरिटिमा

Bionomics, Distribution and Relationships of Earthworms

Mohit Kumar Tiwari[1] and Pratibha Gupta[2]
[1]1/628, Ruchi khand-1, Sharda Nagar Yojna, Lucknow- 226 002, U.P., India
[2]Botanical Survey of India, MOEF, Central Botanic Laboratory, CNH Building
A.J.C. Bose, Indian Botanic Garden, Howrah-711 103, W.B., India

Abstract- Earthworms are commonly found in all Tropical and Subtropical regions of the world. These animals are active in rainy session and are detritus feedus. They are considered as friends of farmers, several species of earthworm like *Pheretima, Eutyphoeus, Dravida, Megascolax Tonoscolox* etc. are found in Indian subcontinent. Usually earthworms are found in soil but some forms like *Perionyx* is found in water, *Dichogaster* on top of palm tree, *Pheretima musica* is found in humas under the epiphytic ferns growing on trees, whereas *Dendrobaena* is found in burrows in green ice of glaciers. Before independence and several years after independence description of *Lumbricus*, which is a European and American form of Earthworm was given and described in our books. In 1926, Prof. Karm Narayan Bahal who was professor in Dept. of Zoology, of University of Lucknow, for first time wrote a Memoir on Indian earthworm *Pheretima* base on his own studies on it between 1919-1926. Like all organisms earthworm is especially adapted to its ecological conditions. Their life style, structure, & biochemistry given them a special position in animal kingdom. Earthworms are member of phylum Annelida and are placed between class Polychaeta and Hirrudinida as it show some resemblance with both. This review article deals with description of Biodiversity, Ecological relationships, Distribution, its Relationship with other two classes and its placement position in Oligochaeta.

Key words- Bionomics, Biochemistry, Detritus feedus, Earthworm, Oligochaeta, Pheretima

1. **परिचय–** केंचुओं को मृदाकृमि भी कहा जाता है, क्योंकि ये भूमि के अन्दर सुरंग बना कर रहते हैं और मृदा ही खाते हैं। सामान्यतः ये

भूमि के अन्दर 30 से0मी0 से 60 से0मी0 की गहराई पर रहते हैं, किन्तु वर्षाकाल में ये पृथ्वी की सतह पर रेंगते हुये मिल जाते हैं इसीलिए जर्मनी के लोग इन्हें रेगेनवर्मर (वर्षाकृमि) कहते हैं। मृदा की 20 से 50 से0मी0 तक की सतह पर जीवाणुओं द्वारा विघटन व विखण्डन की क्रियाओं के कार्बनिक पोषक रसायनों से भरपूर होती है, केंचुओं को मृदा के इस भाग में समुचित मात्रा में पोषण मिल जाता है। परन्तु गर्मी के मौसम में जब भारत के अधिकांश भागों में मृदा के शुष्कता अत्याधिक बढ जाती है तो *द्राविड़ा ग्रेन्डिस* जैसी प्रजातियां नमी की तलाश में 9–10 फिट की गहराई तक चले जाते हैं। किसी भी भू–भाग में केंचुओं की उपस्थिति का पता भूमि की सतह पर उसके मल अवशिष्ट से चल जाता है। ये मल के ढेर वर्षा ऋतु से लेकर सितम्बर अक्टूबर तक देखे जा सकते हैं। स्वतंत्रता पूर्व से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति के कई वर्षों पश्चात् तक हमारे देश की किताबों में यूरोपीय अमेरिकी प्रजाति *लम्ब्रीकस* का विवरण बताया गया था। सन 1926 में प्रोफेसर कर्म नारायण बहल जो कि लखनऊ विश्वविद्यालय में जन्तु विज्ञान विभाग में प्रोफेसर थे, ने भारतीय केंचुऐ फेरिटिमा पर विस्तृत अध्ययन कर एक एतिहासिक संदर्भ पुस्तक (मेमोआयर) लिखी, जिसमे *फेरिटिमा* की वाहय व आन्तरिक रचना का सचित्र विवरण बताया[1,2]। उत्तर भारत में मुख्यतः केंचुए की दो प्रजातियां *फेरिटिमा एवं यूटायफियस* पायी जाती हैं। जिनकी पहचान उनके बिलों के बाहर उनकी मल विष्ठा की प्रकृति से आसानी से हो जाती है। *फेरीटिमा* केंचुए का मल छोटी–छोटी मिट्टी की गोलियों के रूप में होते है, जबकि *यूटायफियस* का मल मिटटी के एक उर्ध्वाकार ढेर के रूप में होता है जिसके मध्य में छिद्र होता है। ये मल नाइट्रोजन युक्त उत्सर्जी रसायनों विशेष रूप से यूरिया से युक्त होता है। इनके मल के ढेर भी अलग–अलग भार व आकार के होते हैं। कभी–कभी ये बहुत बड़े व भारी होते हैं। गेटस् ने बर्मा (इन्डोनेशिया) में *टोनोस्कोलेक्स* नामक केंचुये के 12 से0मी0 उँचे और 600 ग्राम भार के मल के ढेर देखे थे[3]। चार्ल्स डार्विन ने लगभग 40 वर्षो तक केचुये के व्यवहार पर अध्ययन के पश्चात् पाया कि लगभग एक एकड़ भूमि के क्षेत्र में लगभग 50 हजार केंचुये पाये जा सकते है, जो लगभग 14–18 टन मिटटी नीचे से ऊपर कर देते हैं[4]। जिसके परिणाम स्वरूप भूमि की छिद्रता व उर्वरकता में असीम वृद्धि होती है। आधुनिक मानव के द्वारा हल का विकास किये जाने के करोड़ों वर्षों पूर्व से ये केंचुए हमारी पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बनाये रखने के लिये प्राकृतिक हल के रूप में कार्य करते रहे हैं। मृदा के अतिरिक्त केंचुओं की कुछ प्रजातियों ने अपने आपको अन्य आश्रयों के लिये, अनुकूलित किया है, जैसे *पेरियोनेक्स* ने जलीय वातावरण के लिये, प्रजाति *डाइकोगेस्टर* ने ताड़ के वृक्षों के अग्र भाग पर रहने के लिये, *फेरिटिमामसिका* के उपरिपादपीय फर्नो के नीचे की हयूमस में रहने के लिये व *डेन्ड्रोबायना* हिमनदो की हरी हिमशिलाओ में सुरंग बना कर रहने के लिये अनुकूलित हुये हैं। सामान्यतः ये जन्तु रात्रिचर होते हैं मगर वर्षा ऋतु में *यूटायफिस* दिन के समय भी मिटटी पर रेंगते मिल जाते हैं। परन्तु फेरिटिमा अधिकतर सुरंगों में भूमि के अन्दर रहते हैं एवं यदाकदा ही भूमि पर दिखाई पड़ते हैं। ये सामान्यतः रात्रि काल में ही भोजन व प्रजनन के लिये अपनी सुरंग से बाहर आते हैं। केंचुओं की सुरंगों से भूमि की छिद्रता बढ़ जाती है जो दूसरे जीवों व वृक्षों की जड़ो के श्वसन के लिये सहायक होती हैं।

केंचुओं की कुछ प्रजातियां जैव प्रदीप्तता भी दर्शाती हैं। जिनमें मुख्य है–*माइक्रोस्कोलेक्स फास्फोरियस, इसेनिआ फोयटिडा, आक्टोकीटस मल्टीपोरस तथा यूटायफियस* की कुछ प्रजातियां इनमें प्रकाश का स्रोत उदर गुहीय द्रव होता है, न कि त्वचा की म्यूकस की पर्त।

2. **केंचुओं का भोजन**– भूमि के मृदा स्तर में बहुत से कार्बनिक पदार्थ जैसे बीज, सड़ती हुयी पत्तियां, मरे कीट व अन्य जीव उनके अण्डे व लार्वा, जीवाणु विघटन–विखण्डन से बने कार्बनिक पदार्थ पाये जाते हैं। केंचुए इसी मृदा का भक्षण करते हैं, जिससे उनको पोषण मिलता है। केंचुए में आहार नाल में मृदा की अम्लियता को उदासीन करने के लिये उसके फेरेन्जियल भाग में कैल्सियम कार्बोनेट श्रावित करने वाली ग्रन्थियों के अतिरिक्त आहारनाल में सैलूलोज व काइटिन का पाचन करने हेतु सैलूलेज़ व काइटिनेज़ नामक विकर पाये जाते हैं[5]। परन्तु मृदा में सीमित मात्रा में पोषक पदार्थ होने के कारण केंचुएं को अपनी शारीरिक आवश्यकता पूर्ण करने के लिये काफी अधिक मात्रा में मिट्टी खानी पड़ती है।

3. **केंचुओं का जीवनकाल**– केंचुओं की विभिन्न प्रजातियों का जीवनकाल साढ़े तीन वर्ष से लेकर साढ़े दस वर्ष तक होता है। जैसे आइसेनिआ 3 से 4 वर्ष, *लम्ब्रीकस* 5 से 6 वर्ष *ऐलोलोबोफोरा* 5 से 10 वर्ष। इनकी मृत्यु के मुख्य कारणों में अत्याधिक वर्षा के कारण सुरंगों में ऑक्सीजन की कमी के कारण दम घुटना, अन्य परजीवियों का संक्रमण, परभक्षी जन्तु व पक्षी, दुर्घटना, मृदा में विभिन्न कीटनाशक, खरपतवार नाशक, हानिकारक रसायनिक पदार्थो का प्रयोग प्रमुख हैं। मृत्यु आसन्न होने पर केचुओं का शरीर फूल जाता है और शरीर पिछला भाग असामान्य रूप से सिकुड़ जाता है।

4. **परजीविता**– केंचुए के शरीर पर कई परजीवी पाये जा सकते हैं। परन्तु सामान्यतः ये केंचुएं के लिये घातक नहीं होते हैं। प्रोटोजोआ परजीवी *मोनोसिस्टस* के अतिरिक्त *निमैटोसिस्टिस* व *स्टोमेटोफोरा* इत्यादि *फेरिटिमा* पर परजीवी के रूप में पाये जाते हैं। एक निमेटोड परजीवी रैहब्डीटिस पेलिस जो केवल लार्वा अवस्था में केंचुएं पर पाया जाता है। केंचुओं की कई प्रजातियों में क्लस्टर फ्लाई *पोलेनिआ रुडिस* के लार्वा परजीवी के रूप में रहते हैं। जिनके कारण केंचुए अपने बिलों से बाहर निकल आते हैं और भूमि की सतह पर आकर मर जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ जीवाणु, स्पाइरोकीटस, प्लैटिहैलमिन्थिस, ओलाइगोकटिस व रोटीफर्स भी केंचुओं पर परजीवी के रूप में पाये गये हैं।

5. **केंचुओं का वितरण**– केचुओं के वितरण के माध्यम काफी सीमित होते हैं, क्योंकि केंचुए सामान्यतः अपने बिल छोड़ कर इधर–उधर केवल बहुत ज्यादा प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर ही जाते हैं। मैथुन हेतु केंचुएं अपने बिलों से बाहर अवश्य जाते हैं, परन्तु उस समय

भी अपने पश्चभाग से अपने बिल को पकड़े रखते हैं। केंचुए की कुछ प्रजातियां जैसे *एइसेनिआ फोइटिडा* घुमक्कड़ प्रकृति के होते हैं पर इनके लिये भी पहाड़ी क्षेत्र, मरूस्थल, नदी, समुद्र इत्यादि प्राकृतिक बाधा होते हैं जो इनके बिखराव व वितरण को सीमित कर देते हैं। अतः केंचुओं का प्राकृतिक वितरण इनके जन्मजात स्वभाव के कारण नहीं होता वरन वाह्य कारकों जैसे जलप्रवाह, मृदा स्थानान्तरण, वनों के जीव जन्तुओं के पैरों में लगी गीली मिटटी, खेती के उपकरणों, कम्पोस्ट खाद इत्यादि के साथ इनके ककून, नवजात व परिपक्व केंचुये एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँच जाते हैं। इनके वितरण में मनुष्य भी बहुत बड़ा कारक रहा है। सामान्य खेतिहर उत्पाद, फल, फसल के विपणन, वनस्पति उद्यानों से पेड़ पौधों के विपणन इनके वितरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अफ्रीका के दक्षिणी पूर्वी भाग में पाये जाने वाले सभी केंचुए बाहर से आये हैं। वहाँ कोई भी मूल प्रजाति नहीं पायी जाती है। इसी प्रकार भारत के उत्तरी पश्चिमी भाग में पाये जाने वाले अधिकांश केंचए यूरोपीय प्रजाति के हैं। श्रीलंका के पेरोडेनिआ वनस्पति उद्यान में बहुत सी विदेशी केचुओं की प्रजातियां पायी जाती हैं। ये सब वे क्षेत्र हैं जहाँ विदेशी आवागमन बहुत अधिक होता है। इसी प्रकार नीलगिरी व पालनी पहाड़ियों पर यूरोपीय व चीनी प्रजातियां पहुँची। मिकाइलसेन ने विस्तृत वितरण वाली प्रजातियों के लिये पेरेग्रइन शब्द प्रयोग किया, ये प्रजातियां चाहे मनुष्य के कारण वितरित हुई या स्वयं हुई हों पर इनका वितरण काफी विस्तृत दूरस्थ भू भागों पर पाया गया। इनके वर्ग लम्ब्रीसिड के सदस्य *एइसेनियाफोइटिडा, एलोलोबोफोरा कैलीजीनोसा* तथा *बिमास्टस कोनस्ट्रिक्टस* है, दूसरा मुख्य उदाहरण जाति *फेरिटिमा* के केंचुये है जिनकी विभिन्न प्रजातियों ने विविधता अर्जित की और उष्णकटिबन्धीय से लेकर समशीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों तक अपनी उपस्थिति दर्शाता है। इसके अतिरिक्त *पोन्टोस्कोलेक्स कोरेथूरस* सभी उष्णकटिबन्धीय स्थानों में, जबकि *माइक्रोस्कोलेक्स फास्फोरेअस* विश्व के सभी भागों में पाया जाता है। अन्य पेरेग्रइन केंचुओं की प्रजातियां हैं, *यूड्रिलस यूजेनेइ* एवं *डाइकोगैस्टर* सभी उष्ण भागों में, *लैम्पीटो मोरीटइ,* भारत, हिन्द महासागर के एशियाई भू–भागों में, *पेरिओनेक्स इक्साकैवेटस*–भारत, मलेशिया, आर्कीपेलेगो, फिलीपीन्स, थाइलैन्ड, कोचीन, चीन आदि में, *ओसेरोड्रिलस ओक्सीडेन्टेलिस*–भारत, उ० अमेरिका, अफ्रीका, कोमोरो द्वीप पर तथा भारत में वितरित है। *नेमाटोजेनिआ पनामाएन्सिस*– पनामा, कैमरुन तथा भारत में पाया जाता है[6]।

6. **फेरिटिमा का वितरण**– भारत के अधिकांश भाग में *फेरिटिमा* का वितरण है, इसे पेरेग्रइन श्रेणी में रख सकते हैं क्योंकि इसकी कई प्रजातियां जैसे *फे० पोस्थुमा फे0 हवायाना, फे० हेटरोकीटा तथा फे० होउल्लेटी* अब पूरे विश्व में फैल गई हैं, परन्तु इनका मूल निवास दक्षिर्णी पूर्वी एशिया मलेशिया, आर्कीपेलेगो, चीन व जापान है[7]।

7. **एनिलिडा संघ के विभिन्न वर्गो में परस्पर सम्बन्ध**– वर्ग ओलाइगोकीटा के सदस्य जहाँ एक ओर पोलीकीटा से सम्बन्ध दर्शाते हैं, वहीं दूसरी ओर इनका सम्बन्ध हिरुडिनिआ से भी है। प्रारम्भ में समानता की दृष्टि से पोलीकीटा व ओलाइगोकीटा को एक ही वर्ग कीटोपोडा में रखा गया था। वहीं मिकाइलसेन ने कलाइटेलम व अन्य लक्षणों की समानता के कारण ओलाइगोकीटा व हिरुडिनिआ को एक ही वर्ग क्लाइटेलेटा में रखा था[8]। विस्तृत अध्ययनों से पाया गया कि एनीलीडा संघ का सबसे प्रचीन सदस्य पोलीकीटा के सदस्य हैं और इन्हीं में विकास के पश्चात् ओलाइगोकीटा तथा कालान्तर में हिरुडिनिया का विकास हुआ। इसमें पोलीकीटा वर्ग से समानता के मुख्य लक्षण हैं, शरीर का समखण्डों में विभाजित होना, प्रचलन हेतु काइटिन के बने प्रचलन अंग सीटा का पाया जाना, बड़ी सीलोम गुहा का पाया जाना, गुहा का खण्डीय पटो से विभाजित होना, तंत्रिका तन्त्र व परिसंचारी तन्त्र का लगभग समान होना। परन्तु प्रजनन अंगों का अत्याधिक विकसित होना, सीमित खण्डों में व्यवस्थित होना, द्विलिंगी होना व लारवा अवस्था न पाया जाना, ओलाइगोकीटा की विशिष्टता है। जबकि पोलीकीटा के सदस्यों का विशिष्ट लिंगी होना व अण्डाशय व वृषणों का विशिष्ट कोशिकाओं से निर्मित न होना एवं ट्रोकोफोर लारवा पाया जाना इन्हें ओलाइगोकीटा से विलग करता है। यदि हम ओलाइगोकीटा का हिरुडिनिआ सें सम्बन्ध देखें तो पायेंगे कि हिरुडिनिआ में पाये जाने वाले लक्षण व अनुवांशिक जीनी गठन भी काफी हद तक ओलागोकीटा से समानता दर्शाते हैं। मांसाहारी प्रकृति काफी ओलागोकीट सदस्यों में पायी जाती है जैसे कि *कीटोगैस्टर, एग्रीओड्रिलस* तथा *ब्रैन्कियोबडिलाइडी* के कुछ सदस्य जो वाहय परजीवी के रूप में पाये जाते है। एकेन्थोब्डेला का ओलोइगोकीटा वर्ग की जोंक के समान माना जाता है। शरीर के अग्र पांच खण्ड में सीटा की उपस्थिति, पेशी युक्त चूषक ग्रसनी, पश्च भाग में चूषक तथा मल द्वार का पश्च पृष्ठ भाग पर होना कुल लम्ब्रीक्यूलाइडी, ब्रैन्कियोब्डिलाइडी, एकेन्थोब्डिलाइडी एवं हिरुडिनिआ के सदस्यों में समान रूप पाये जाते हैं। इस प्रकार से ओलाइगोकीटा व हिरुडिनिया आपस में निकट सम्बन्ध दर्शाते हैं तथा इस तथ्य की पुष्टि करते हैं की हिरुडिनिया का विकास ओलाइगोकीटा से ही हुआ हैं। अपने विशिष्ट लक्षणों के कारण ओलागोकीटा वर्ग के सदस्य अपना स्थान पोलीकीटा व हिरुडिनिआ के वर्ग के मध्य स्थापित करते हैं, जो दोनो वर्गों से समानता के साथ–साथ अपनी स्वयं की विशिष्टता भी रखते हैं।

8. **केंचुए का उपयोग**– केचुए का प्रयोग मछली पकड़ने के लिये चारे के रूप में या मछलीघर की मछलियों के लिये भोजन के रूप में किया जाता है। इसे मनुष्यों के भोजन के रूप में, इनकी उपस्थित भूमि को छिद्रित कर वायु के आवागमन को बढ़ाते हैं व इनकी मल विष्ठा से मृदा की उर्वरकता बढ़ जाती है, ये प्राकृतिक हज के रूप में कार्य करते हैं, इसलिए इन्हें किसानों का मित्र भी कहा जाता है। कभी–कभी ये इलाइची व पान के पौधों की जड़ों को खाकर इन फसलों पर हानिकारक प्रभाव भी दर्शाते हैं।

9. **निष्कर्ष**– यूं तो जीव जगत का प्रत्येक जीवधारी अपने स्थान पर महत्वपूर्ण होता है, परिस्थितिकी तन्त्र में उसका महत्व होता है, परन्तु जब हम केंचुओं के सम्बन्ध में बात करते हैं तो यह तथ्य और महत्वपूर्ण हो जाता है। केंचुए जो पूरी पृथ्वी पर सभी उष्ण कटिबन्धीय, समशीतोष्ण भागों में पाये जाते हैं। ये परिस्थितिकी तन्त्र के अत्यन्त उपयोगी जीव हैं, जो मृदा की उर्वरकता, छिद्रता, व पोषण क्षमता बढाते

हैं। परन्तु रसायनिक उर्वरकों, कीटानाशक, खरपतवार नाशक रसायनों के बढ़ते उपयोग ने केचुओं को अधिक हानि पहुचायी है। प्राकृतिक परिस्थितिक संतुलन बनाये रखने के लिये हमें इनके संरक्षण पर विशेष ध्यान देना होगा।

नोट– प्रस्तुत लेख में केंचुओं के चित्र अर्न्तजाल से लिये गये हैं।

संदर्भ

1. बहल, कर्म नारायन (1947) *द इण्डियन जूलोजिकल मेमोआयर्स 'फेरिटिमा (द इण्डियन अर्थवर्म)',* लखनऊ पब्लिशिंग हाऊस, लखनऊ, भारत।
2. बहल, कर्म नारायन (1927) *ऑन द रिप्रोडक्टिव सिस्टम ऑफ अर्थवर्म्स,* क्यू0 जे0 एम0 एस0, भाग–7।
3. गेट्स, जी0 इ0 (1868) *इण्डियन अर्थवर्म्स,* http://Faunaofindia.nic.in>PDF Volumes> records.
4. डार्विन, चार्ल्स (1881) *द फारमेशन आफ वेजिटेबुल मोल्ड थ्रू द एक्शन ऑफ वर्मस*
5. स्टीफेंन्सन, जे0 एवं बेनी प्रसाद (1919) *द कैल्सीफेरस ग्लैंडस आफ अर्थवर्म,* ट्रांस रायल सो0 एडिन0, भाग–52।
6. जुल्का, जी0 इ0 एवं पालीवाल, आर0, (2005) *डिस्ट्रीब्यूशन आफ अर्थवर्म्स इन डिफरेन्ट एगरो–क्लाइमेटिक रीज़न्स ऑफ इण्डिया, स्वाइलि बायो डायवर्सिटी, इकोलोजिकल प्रोसेस एण्ड लैण्डस्केप'',* ऑक्सफोर्ड एण्ड ए0 बी0 एच0 पब्लीकेशन्स को0 प्रा0 लि0 नई दिल्ली, मु0पृ0 3–13
7. स्टीफेन्सन, जे0 (1913) *ओलाइगोकीटा इन द फॉना आफ ब्रिटिश इण्डिया,* लंदन।
8. मिकेलसेन, डब्लू0 (1919) *उबेर दि वेजइह्यूनगेन दर हिरुडिनीन ज्यू डेन ओलाइगोकीटेन,* मिट्ट0 नेचुरह0 म्यूस0 हमबर्ग, भाग–36

प्रो0 कर्म नारायन बहल

फेरिटिमा पोस्थुमा

यूटायफियस की मल विष्ठा

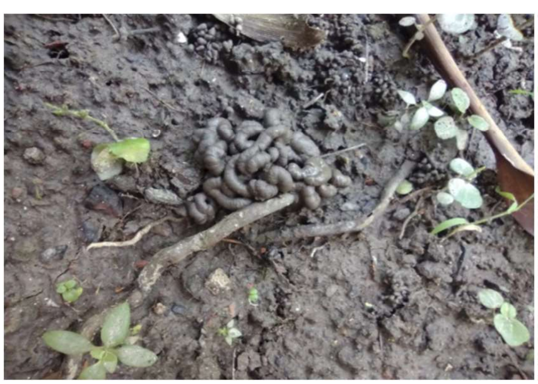
यूटायफियस की मल विष्ठा

यूटायफियस व फेरिटिमा की सूरगें करीब करीब

फेरिटिमा की मल विष्ठा

फेरिटिमा की मल विष्ठा

लम्ब्रीकस

फेरिटिमा पोस्थुमा